भारत के आर्थिक विकास का राजनीतिक अर्थशास्त्र

1947 में सत्ता हासिल करने के बाद भारत के पूंजीपति वर्ग और उसकी अर्थव्यवस्था ने एक लम्बा सफर तय किया है। आज भारत का पूंजीपति वर्ग अपनी अर्थव्यवस्था की तेज वृद्धि दर की डींग हांक रहा है। वह विश्व पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में अपने लिए नयी जगह हासिल करने के मंसूबे पाल रहा है।

वास्तव में भारत के पूंजीपति वर्ग और उसकी अर्थव्यवस्था की क्या स्थिति है। इसकी गति क्या है और भविष्य क्या होगा इसके लिए बीते साढ़े छः दशक की इसकी यात्रा का एक लेखा–जोखा लेना समीचीन होगा। वर्तमान लेख में इसी का प्रयास किया गया है।

I

भारतीय अर्थव्यवस्था पर एक विहंगम दृष्टि

a. आम विकास दर

भारत का पूंजीपति वर्ग आज जिस तेज वृद्धि दर पर इतरा रहा है वह पिछले नौ सालों की चीज है। इसके पहले उसके लिए इतना इतराने वाली बात नहीं थी। उसके भी पहले तो उसके लिए शर्म की बात थी क्योंकि उसकी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर बहुत धीमी थी और उसे 'हिन्दू विकास दर' का नाम दे दिया गया था। नीचे की तालिका इसे दिखाती है :

तालिका–1

क्षेत्रीय और कुल वृद्धि दर (प्रतिशत प्रति साल)

क्षेत्र / काल	1950–51 से 1979–80	1980–81 से 2004–05	1980–81 से 1990–91	1991–92 से 2004–05
प्राथमिक क्षेत्र	2.2	2.9	3.1	2.5
द्वितीयक क्षेत्र	5.3	6.1	6.7	6.0
तृतीयक क्षेत्र	4.5	7.1	6.6	7.8
कुल सकल घरेलू उत्पाद	3.5	5.6	5.4	5.9
प्रति व्यक्ति जी.डी.पी.	1.4	3.6	3.2	4.1

स्त्रोत : Economic Reforms and Growth in India, EPW, Orient Black Swan, New Delhi, 2011 Table-1.2, P-19

तालिका–1 दिखाती है कि आजादी के बाद के पहले तीन दशकों में अर्थव्यवस्था में वृद्धि दर औसतन महज 3.5 प्रतिशत सालाना थी। प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद में तो वृद्धि दर महज 1.4 प्रतिशत थी। इस काल में खेती बमुश्किल जनसंख्या वृद्धि दर से आगे निकल पा रही थी।

तुलनात्मक तौर पर देखें तो भारत की औसत वृद्धि दर इस काल में तीसरी दुनिया की औसत वृद्धि दर से कम थी। यह विश्व औसत से बस थोड़ी ही ज्यादा थी। नीचे की तालिका इसे स्पष्ट करती है :

तालिका–2

आर्थिक विकास के सूचकांक (सालाना वृद्धि दर, प्रतिशत) (1950–80)

	भारत	तीसरी दुनिया	विश्व
सकल घरेलू उत्पाद	3.5	4.9	3.1
प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद	1.2	2.7	2.2
औद्योगिक उत्पाद	4.1	6.3	4.3

स्त्रोत : Dalip S. Swamy, The Political Economy of Industrialisation, Sage Publication, New Delhi, 1994, table-1.1

इस निम्न विकास दर ने 1980 के दशक से कुछ रफतार पकड़ी और अगले ढाई दशकों में यह औसतन करीब साढ़े पांच प्रतिशत सालाना रही। इस काल में इसने हिन्दू विकास दर को छोड़ दिया। लेकिन तब भी भारत के पूंजीपति वर्ग के पास अभी शान बघारने के लिए ज्यादा कुछ नहीं था। यह उसे हासिल हुआ 2003–04 से जब उसके अनुसार उसका भारत चमकने लगा। पिछले नौ सालों में भारत के सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर इस प्रकार रही हैः 8.5,7,5,9.5, 9.6, 9.3, 6.7, 8.4, 8.4, 6.5 प्रतिशत। यह साल औसत से 8.3 प्रतिशत सालाना बैठती है।

पहले तीन दशक तक 3.5 प्रतिशत सालाना उसके बाद ढाई दशक तक करीब साढ़े पांच प्रतिशत सालाना और पिछले एक दशक में अब आठ प्रतिशत से ऊपर। वाकई भारत के पूंजीपति वर्ग के पास खुश होने के कारण हैं। ये समग्र व्यापक आंकड़े पूंजीपति वर्ग के पसंदीदा है। लेकिन जैसा कि हम आगे देखेंगे, आंकड़े और भी हैं और वे तस्वीर को उतना खुशनुमा नहीं रहने देते।

भारत के पूंजीवादी विकास के संदर्भ में एक चीज अक्सर आंखों से ओझल हो जाती है। यह तथ्य अक्सर नजरअंदाज हो जाता है कि भारत के पूंजीपति वर्ग ने वास्तविक उड़ान उसी काल में भरी जिसे हिन्दू विकास दर का काल कहा जाता है। आजादी के पहले की अर्द्ध शताब्दी और उसके बाद के काल के बारे में ये आंकड़े इसे तीक्ष्णता से प्रदर्शित करते हैं:

तालिका–3

बीसवीं सदी में भारत मं वृद्धि दर (प्रतिशत/सालाना)

	शिव सुब्रमणियम आकलन	मेडिसिन आकलन
A.1900–01 से 1946–47		
प्राथमिक क्षेत्र	0.4	0.8
द्वितीयक क्षेत्र	1.7	1.1
तृतीयक द्वोत्र	1.7	0.8
राष्ट्रीय आय	1.0	0.8
प्रति व्यक्ति आय	0.2	0.04
B.1950–51 से 2004–05		
प्राथमिक क्षेत्र	2.5	
द्वितीयक क्षेत्र	5.3	
तृतीयक द्वोत्र	5.4	
सकल घरेलू उत्पाद	4.2	
प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद	2.1	

स्त्रोत : Economic Reforms etc, वही , table-1.1

भारत में अंग्रेजी शासन की अर्द्ध शताब्दी लगभग ठहराव की अर्द्ध शताब्दी है। इस काल में प्रति व्यक्ति आय अत्यंत धीमी गति से बढ़ी। एक आकलन में यह महज 0.2 प्रतिशत सालाना और दूसरे आकलन में तो और भी भी कम 0.04 प्रतिशत सालाना थी। अर्थव्यवस्था के तीनों क्षेत्र ही बुरी अवस्था में थे। लेकिन शताब्दी के दूसरे अर्द्धांश में तस्वीर भिन्न है। जैसा कि पहले इंगित किया गया है, आजादी के बाद शुरुआती तीन दशक में सकल घरेलू उत्पाद में 3.5 प्रतिशत सालाना और प्रतिव्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद में 1.4 प्रतिशत सालाना की वृद्धि दर रही। आजादी के बाद के साढ़े पांच दशकों में ये दोनों क्रमशः 4.2 प्रतिशत तथा 2.1 प्रतिशत रहे। 1947 के पहले और बाद का यह फर्क अंग्रेजी साम्राज्यवादी शासन के तहत अर्द्ध सामंती ठहराव तथा भारत के पूंजीपति वर्ग के तहत पूंजीवादी विकास का फर्क है। ये आकड़े 1947 के बाद भारत के पूंजीवादी विकास को स्पष्टता से प्रदर्शित करते हैं।

b. अर्थव्यवस्था की क्षेत्रीय संरचना और वृद्धि दर

जैसा कि पहले कहा गया है, भारत की समग्र अर्थव्यवस्था की वर्तमान खुशनुमा तस्वीर तब बदनुमा होने लगती है जब इस तस्वीर को नजदीक से देखते हैं। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों (Sectors) की वृद्धि दर और समूची अर्थव्यवस्था में उनका हिस्सा इसके एक बदनुमा पहलू को उजागर करता है।

तालिका–1 को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि 1980 के बाद के ढाई दशकों में जब अर्थव्यवस्था ने हिन्दू विकास दर छोड़ी तो मूलभूत माल उत्पादन के क्षेत्र में ज्यादा छलांग नहीं लगी। कृषि में वृद्धि दर करीब एक तिहाई बढ़ी (2.2 से 2.9 प्रतिशत) तो द्वितीयक क्षेत्र में महज 1.5 प्रतिशत (5.3 से 6.1 प्रतिशत)। असली छलांग लगी सेवा क्षेत्र में। इसमें वृद्धि दर डेढ़ गुनी से भी ज्यादा हो गई (4.5 से 7. 1 प्रतिशत)! इसका एक परिणाम हुआ कि अर्थव्यवस्था की क्षेत्रीय संरचना तेजी से बदलने लगी। नीचे तालिका इसे दिखाती है।

तालिका–4			
सकल घरूलू उत्पाद की क्षेत्रीय संरचना (प्रतिशत)			
सल	कृषि	उद्योग	सेवा
1950-51	53.1	16.6	30.3
1960-61	48.7	20.5	30.8
1970-71	42.3	24.0	33.8
1980-81	36.1	25.9	38.0
1990-91	29.6	27.7	42.7
2000-01	22.3	27.3	50.4
2010-11	14.5	27.8	57.7
2011-12	13.9	27.0	59.0
स्त्रोत : Economic Survey 2011-12, table-1.6			

तालिका–4 दिखाती है कि सेवा क्षेत्र का हिस्सा संपूर्ण अर्थव्यवस्था में बढ़ते–बढ़ते करीब 60 प्रतिशत तक पहुंच गया है जबकि कृषि का हिस्सा घटते–घटते करीब 13 प्रतिशत रह गया है। यह अपने–आप में ज्यादा बड़ी बात नहीं होती यदि कृषि पर निर्भर आबादी भी इसी मात्रा में कम होती गई होती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। अभी भी कृषि पर निर्भर आबादी 50 प्रतिशत से ज्यादा है। यह समूची अर्थव्यवस्था में अजीब सी विकृति का परिचायक है कि महज 13 प्रतिशत सकल घरेलू उत्पाद वाला हिस्सा आबादी के आधे से भी ज्यादा हिस्से का वहन करे।

पिछले दशक भर के तेज वृद्धि दर वाले काल में यह असंतुलन और बढ़ा
है। इस काल में सेवा क्षेत्र की वृद्धि दर और तेज रही है। यह औसतन दस प्रतिशत से ज्यादा रही है।

कृषि और उद्योग मूलभूत सामानों और मालों का उत्पादन करते हैं। मूलभूत मालों के क्षेत्र में वृद्धि दर के धीमे होने और इसकी खरीद फरोख्त के कारोबार में वृद्धि दर तेज होने का मतलब समूची अर्थव्यवस्था का परजीवीपन की ओर बढ़ना है। यह परजीवीपन ही है कि मालों का उत्पादन तो कम हो लेकिन उनकी खरीद फरोख्त और उससे संबंधित वित्त का कारोबार ज्यादा से ज्यादा हो। विकसित पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं की यह आम प्रवृत्ति है। लेकिन तब उन अर्थव्यवस्थाओं में आबादी का ज्यादातर हिस्सा भी सेवा क्षेत्र में लगा हुआ है। वहां अति उन्नत तकनीक के जरिये थोड़े से लोग कृषि और उद्योग में बहुत ज्यादा माल पैदा कर रहे हैं। लेकिन भारत एक पिछड़ा पूंजीवादी देश है। यहां उत्पादन का स्तर अत्यन्त निम्न है। यहां आधी से ज्यादा आबादी खेती पर निर्भर है। लेकिन तब भी सेवा क्षेत्र यहां लगातार बढ़ता जा रहा है।

यहां यह गौरतलब है कि चीन की अर्थव्यवस्था में उद्योग का हिस्सा करीब आधा है। अपनी शोचनीय स्थिति को कभी–कभी पूंजीपति वर्ग यह कहकर ढंकने का प्रयास करता है कि चीन दुनिया का वर्कशाप है और भारत दुनिया का कार्यालय। पर वास्तव में भारत के सेवाक्षेत्र में इस कार्यालय का दुनिया से लेना–देना नहीं है। यह तो अजीब ढंग से असंतुलित और विकृत भारतीय अर्थव्यवस्था की ही सेवा कर रहा है।

C. बढ़ती क्षेत्रीय असमानता

(Regional inequality)

अर्थव्यवस्था के विभिन्न हिस्सों में असंतुलन के साथ–साथ पूरे देश के पैमाने पर क्षेत्रीय असंतुलन भी लगातार बढ़ता गया है। जैसे–जैसे देश का पूंजीवादी विकास होता गया है वैसे–वैसे यह असंतुलन भी बढ़ता गया है। नीचे की तालिका इसे दिखाती है :

तालिका–5					
प्रदेशों के बीच असमानता की प्रवृत्ति, 1980–81 से 2006–07					
साल	गिनी गुणांक	साल	गिनी गुणांक	साल	गिनी गुणांक
1980-81	0.115	1989-90	0.133	1998-99	0.159
1981-82	0.121	1990-91	0.166	1999-2000	0.164
1982-83	0.113	1991-92	0.134	2000-01	0.164
1983-84	0.133	1992-93	0.148	2001-02	0.207
1984-85	0.112	1993-94	0.151	2002-03	0.204
1985-86	0.114	1994-95	0.158	2003-04	0.209
1986-87	0.111	1995-96	0.174	2004-05	0.205
1987-88	0.122	1996-97	0.164	2005-06	0.208
1988-89	0.119	1997-98	0.160	2006-07	0.206
स्त्रोत : Economic Reforms etc, वही 2011-12, Table-15.6					

तालिका भारत के सबसे प्रमुख 14 प्रदेशों के बीच गिनी गुणांक को दिखाती है। यह गुणांक लगातार बढ़ता गया है और 1980 से 2006 के बीच लगभग दो गुना हो गया है। गिनी गुणांक बढ़ती हुयी असमानता को दिखाता है।

भारत के विभिन्न प्रदेशों के बीच बढ़ती हुयी असमानता इतनी मुखर है कि इसे शासक पूंजीपति वर्ग के प्रमुख लोग भी संज्ञान में लेने को मजबूर हैं। योजना आयोग के वर्तमान अध्यक्ष मोन्टेक सिंह अहलूवालिया भी ऐसे ही शख्स हैं। उन्होंने इस बढ़ती क्षेत्रीय असमानता के जो आंकड़े दिये हैं वे इसे और ज्यादा प्रमुखता से पेश करते हैं। उनके अनुसार 1980–81 और 1997–98 के बीच गिनी गुणांक इस प्रकार रहाः 0.152,0.152,0.152,0.151,0.154,0.159,0.157,0.161,0.158, 0.157, 0.175, 0.175, 0.199, 0.207, 0.214, 0.225,0.225, 0.228, 0.225 । (स्रोत वही, Table-17.3)

बात केवल प्रदेशों के बीच असमानता की ही नहीं है। बात प्रदेशों के भीतर की असमानता की भी है। महाराष्ट्र देश का सबसे विकसित प्रदेश है लेकिन साथ ही यही वह प्रदेश भी है जिसमें जिलों के बीच असमानता सबसे ज्यादा है। इसमें एक ओर मुंबई है तो दूसरी ओर विदर्भ के जिले।

d. विश्व अर्थव्यवस्था से संबंध : आयात–निर्यात

एक लम्बे समय तक भारत की अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत बंद अर्थव्यवस्था थी। इसका आयात और निर्यात बहुत थोड़ा था। परन्तु बाद के सालों में यह आयात–निर्यात तेजी से बढ़ा है और इसी के साथ पूंजीवादी व्यवस्था में भारत का अंतर्गुंफन भी।

तालिका–6

भारत का निर्यात

काल	वैश्विक निर्यात में भारत का हिस्सा		निर्यात
	मल	सेवाएं	सकल घरेलू उत्पाद से निर्यात का अनुपात
1950-51	1.39	NA	NA
1960-69	0.90	NA	4.21
1970-79	0.54	NA	5.20
1980-85	0.47	0.81	6.05
1986-90	0.48	0.63	6.29
1993-97	0.60	0.59	10.50
1999-01	0.66	1.07	12.52
2002-05	0.81	1.64	17.19

स्त्रोत :वही, Table 14.1

1980 के दशक तक भारत का निर्यात कुल वैश्विक निर्यात के मुकाबले धीमी गति से बढ़ा और भारत का हिस्सा लगातार घटता गया। लेकिन इसके बाद यह बढ़ने लगा और यह प्रवृत्ति अभी जारी है।

निर्यात की तरह भारत का आयात भी पिछले दो दशक में तेजी से बढ़ा है। बल्कि आयात निर्यात के मुकाबले तेजी से बढ़ा है। इसीलिए व्यापार घाटा भी तेजी से बढ़ा है। नीचे की तालिका इसे दिखाती है :

तालिका–7

भारत का आयात–निर्यात/सकल घरूलू उत्पाद (प्रतिशत)

	2006–07	2007–08	2008–09	2009–10	2010–11
निर्यात	13.6	13.4	15.2	13.4	14.8
आयात	20.1	20.8	25	22	22.6
व्यापार घाटा	-6.5	-7.4	-9.7	-8.7	-7.8

स्त्रोत : Economic Survey 2011-12, table-6.2

2010–11 में कुल आयात–निर्यात सकल घरेलू उत्पाद के 37 प्रतिशत से भी ज्यादा हो गया था। यह दृष्टव्य है कि 2008–09 में कुल व्यापार घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 9.7 प्रतिशत था। किसी समय भारत का कुल आयात–निर्यात इतना हुआ करता था।

भारत के निर्यात में कच्चे मालों की मात्रा घटती गई है। अब भारत का दो तिहाई से ज्यादा निर्यात निर्मित या प्रसंस्कृत मालों का होता है। लेकिन साथ ही यह भी है कि पिछले कुछ सालों में पूंजीगत मालों की मात्रा आयात में बढ़ी है और अब यह करीब 15 प्रतिशत के आस–पास है।

पिछले कुछ सालों में भारत से सेवाओं का निर्यात तेजी से बढ़ा है। इसी का एक नतीजा यह भी है कि भारत का कुल व्यापार घाटा किसी हद तक कम हुआ है। सेवाओं के आयात–निर्यात की स्थिति इस प्रकार है :

तालिका–8

भारत में सेवाओं का आयात–निर्यात और व्यापार संतुलन
(अरब डालर)

साल	निर्यात	आयात	संतुलन
2000-01	16.3	14.6	1.7
2001-02	17.1	13.8	3.3
2002-03	20.8	17.1	3.6
2003-04	26.9	16.7	10.1
2004-05	43.2	27.8	15.4
2005-06	57.7	34.8	23.2
2006-07	73.8	44.3	29.5
2007-08	90.3	51.5	38.9
2008-09	106.0	52.0	53.9
2009-10	96.0	60.0	36.0
2010-11	132.9	84.1	48.8

स्त्रोत :वही, Table-7.15

e- विश्व अर्थव्यवस्था से संबंधः विदेशी पूंजी निवेश और कर्ज

भारत में पिछले साढ़े छः दशकों में विदेशी पूंजी निवेश और कर्ज के सम्बंध समय–समय पर बदलते रहे हैं। जहां शुरुआती दौर में सरकार द्वारा कर्ज और विदेशी सहायता प्रमुख थे वहीं बाद के दौर में पूंजी निवेश प्रमुख बन गये।

भारत में विदेशी पूंजी के आगमन की एक तस्वीर ये आंकड़े पेश करते हैं :

तालिका–9

सल	निविल पूंजी आगमन
1970-71	0.15
1974-75	0.15
1978-79	0.30
1980-81	0.33
1984-85	0.76
1988-89	1.90
1990-91	2.17
1994-95	3.80
1996-97	4.44
2000-01	3.41

स्त्रोत : Economic Reforms etc,Table-13.4

तालिका दिखाती है कि बाद के समय में निविल पूंजी आगमन भारत में काफी बढ़ गया। यह बाद के समय में भारत में विदेशी पूंजी के बढ़ते प्रभाव को दिखाता है।

1990–91 में जब भारत में विदेशी मुद्रा का संकट गहराया तो उसमें एक प्रमुख भूमिका विदेशी कर्ज की थी। 1980 के दशक में कर्ज तेजी से बढ़ा था और उसमें भी छोटी अवधि के ऋण की मात्रा पर्याप्त थी। कुल विदेशी कर्ज 1982 में करीब 17 अरब डालर से 1990 में करीब 84 अरब डालर हो गया था। उसके बाद के समय में भारत पर कुल कर्ज की मात्रा तो बढ़ी पर सापेक्षिक तौर पर यह कम हुयी है। नीचे की तालिका इसे प्रदर्शित करती है :

तालिका–10							
भारत के विदेशी कर्ज के मुख्य सूचकांक (प्रतिशत)							
साल	विदेशी कर्ज (अरब डालर)	जी.डी.पी. के अनुपात में विदेशी कर्ज	कर्ज भुगतान अनुपात	कुल विदेशी कर्ज के अनुपात में विदेशी मुद्रा भंडार	कुल विदेशी कर्ज के अनुपात में छूट वाला कर्ज	विदेशी मुद्रा भंडार के अनुपात में छोटी अवधि का कर्ज	कुल कर्ज के अनुपात में छोटी अवधि का कर्ज
1990-91	83.8	28.7	35.3	7.0	45.9	146.5	10.2
1995-96	93.7	26.9	26.2	23.1	44.7	23.2	5.4
2000-01	101.3	22.5	16.6	41.7	35.4	8.6	3.6
2005-06	139.1	16.8	10.1	109.0	28.4	12.9	14.1
2006-07	172.4	17.5	4.7	115.6	23.0	14.1	16.4
2007-08	224.4	18.0	4.8	138.0	19.7	14.8	20.4
2008-09	224.5	20.3	4.4	112.1	18.7	17.2	19.2
2009-10	261.0	18.3	5.5	106.9	16.8	18.8	20.0
स्त्रोत : Economic Survey.2011-2012,Table 6.13							

तालिका से स्पष्ट है कि वर्तमान समय में भारत के विदेशी कर्ज की स्थिति शोचनीय नहीं है। लेकिन यह बहुत आरामदायक भी नहीं है। विश्व अर्थव्यवस्था में संकट गहराने पर स्थिति शोचनीय हो जायेगी।

एकदम हाल के सालों में देश में विदेशी पूंजी के आगमन की यह स्थिति है :

तालिका–11			
देश में विदेशी पूंजी आगमन (सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत)			
साल	**प्रत्यक्ष पूंजी निवेश (निविल)**	**एफ.पी.आई.**	**बाहरी व्यवसायिक कर्ज**
2006-07	0.8	0.7	1.7
2007-08	1.3	2.2	1.8
2008-09	1.8	-1.2	0.6
2009-10	1.3	2.4	0.1
2010-11	0.6	1.8	0.7
स्त्रोत : Economic Survey, 2011-12, Table 6.2			

1991 के आर्थिक सुधारों के बाद देश में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश इस प्रकार रहा है :

तालिका–11A	
सल	प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (डालर में)
1991-92 से 1999-00	15.5
2000-01 से 2004-05	25.6
2005-06 से 2009-10	142.2
2000-01 से 2009-10	167.8
स्त्रोत : Inda's FDI Inflows Trends & concepts, K.S. Chalpati Rao Biswajit Dav, ISID, Feb. 2011, Table 4	

f. विश्व अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध : भारतीय पूंजीपति वर्ग द्वारा बाहर विदेशी निवेश

वक्त के साथ भारत का पूंजीपति वर्ग इतना शक्तिशाली हो गया कि वह विदेशों में अपने पांव पसारने लगा। इसकी शुरुआत 1960 के दशक में हुयी लेकिन इसमें तेजी 1990 के दशक में आयी। नीचे की तालिका इसे दिखाती है :

तालिका–12

भारत से बाहर विदेशी निवेश की संख्या और मात्रा

साल	प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (करोड़ डालर)	बाहर निवेश करने वाले फर्मो की संख्या
1961-69	3.2	11
1970-79	8.7	60
1980-89	15.2	146
1990-99	335.1	1257
2000-07	3722.4	2104

स्त्रोत : The Rise of Indian Multinationals, Ed by Karl P. Sauvant Jaya Prakash Pradhan, Palgrave Macmillan, New Yor, 2010, Fig 1.2

भारत के पूंजीपति वर्ग द्वारा यह विदेशी निवेश शुरू में ज्यादातर तीसरी दुनिया के देशों में था। पर बाद के काल में इसमें प्रमुखता विकसित देशों में निवेश हो गई। नीचे की तालिका इस प्रदर्शित करती है :

तालिका–13

भारतीय बाहरी पूंजी निवेश की क्षेत्रीय संरचना

मेजबान क्षेत्र / अर्थव्यवस्था	1901-1989		1990-2007		बाहर निवेश करने वालों की संख्या
	करांड़ डालर में विदेशी निवेश	प्रतिशत	करांड़ डालर में विदेशी निवेश	प्रतिशत	
विकसित अर्थव्यवस्थाएं	4.9	18.2	1711.2	61.6	1866
यूरोप	3.2	11.7	1326.4	47.7	877
उत्तरी अमेरिका	1.8	6.5	320.3	11.5	104
उभरते बाजार	22.1	81.8	1067.8	38.4	1674
अफीका	7.4	27.2	328.5	11.8	398
लैटिन अमेरिका	0.018	0.1	117.9	4.2	61
एशिया	11.6	42.7	485.2	17.5	1298
विश्व	27.1	100.0	2779.1	100.0	3149

स्त्रोत : वही, Table 1.2

भारत के पूंजीपतियों द्वारा विदेशों में उनके निवेश के मामले में यह गौर करने की बात है कि शुरुआती दौर में उनका सबसे ज्यादा निवेश द्वितीयक क्षेत्र (मैनुफैक्चरिंग) में था। प्राथमिक क्षेत्र में तब निवेश न के बराबर था। बाद के काल में प्राथमिक क्षेत्र में गैस, पेट्रोलियम और संबंधित उत्पादों में निवेश खूब बढ़ा। नीचे की तालिका इसे दिखाती है :

तालिका–14					
भारतीय बाहरी पूंजी निवेश की क्षेत्रीय संरचना					
क्षेत्र और उद्योग	1901-1989		1990-2007		बाहर निवेश करने वाले फर्मो की संख्या
	करोड़ डालर में बाहरी निवेश	प्रतिशत	करोड़ डालर में बाहरी निवेश	प्रतिशत	
प्राथमिक	0.4	1.6	528.2	22.51	135
गैस, पेट्रोलियम इत्यादि	0.0	0.0	498.8	21.3	44.0
द्वितीयक (मैनुफैक्चरिंग)	17.0	62.7	987.0	42.1	1620.0
कागज और कागज उत्पाद	3.2	11.7	5.1	0.2	24.0
केमिकल	5.5	20.2	169.9	7.2	212.0
फार्मासिटकल	0.4	1.5	187.4	12.3	158.0
तुतीयक (सेवा)	9.5	3.5	825.5	35.2	1546.0
निर्माण और इंजीनियरिंग	1.5	5.5	48.0	2.1	121.0
वित्त एवं बीमा	3.2	11.8	130.1	5.6	144.0
सूचना प्रौद्योगिकी	0.5	1.9	363.3	15.5	848.0
कुल	271.0	100.0	2346.7	100.0	3149.0
					स्त्रोत : वही, Table 1.3

शुरू में जब भारत के पूंजीपतियों ने विदेशों में निवेश किया तो वह स्थानीय कंपनियों की साझेदारी के साथ ज्यादा था। लेकिन वक्त के साथ साझेदारी का मामला कम होता गया है।

तालिका–15				
भारतीय बाहरी निवेश में मालिकाना संरचना				
काल	साझे उद्यम	स्वयं के उद्यम	कुल	साझे उद्यम का कुल से अनुपात –प्रतिशत
1961-69	8	5	13	61.5
1970-79	63	9	72	87.5
1980-89	105	45	150	70.0
1990-99	888	1039	1927	46.1
2000-07	1647	5095	6742	24.4
				स्त्रोत : वही, Table-1.4

भारत की फर्मों ने न केवल विदेशों में साझेदारी की है और अपने स्वयं के मालिकाने के उद्यम लगाये हैं, बल्कि उन्होंने विदेशों में अधिग्रहण भी किये हैं। नीचे की तालिका इसे दिखाती है :

तालिका–16			
विदेशी अधिग्रहण			
भारतीय फर्मो द्वारा विदेशों में अधिग्रहण (2000–2009)			
वर्ष	मूल्य (करोड़ डालर)	सौदों की संख्या	अधिग्रहण करने वाली भारतीय फर्मों की संख्या
2000	90.8	39	29
2001	19.4	22	21
2002	260.2	27	16
2003	61.6	41	37
2004	301.1	60	48
2005	357.7	143	97
2006	771.2	189	139
2007	3582.7	192	150
2008	1295.4	235	164
2009	281.4	28	24
कुल	7021.5	976	437
स्त्रोत : वही, Table-1.5			

g. वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत

उपरोक्त सबके बाद वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत कहां ठहरता है? अब जबकि भारत का पूंजीपति वर्ग बहुत जोर–शोर से वैश्विक स्तर पर अपनी भूमिका की बात कर रहा है तब वास्तव में उसकी क्या स्थिति है?

यहां यह इंगित करना होगा कि वैश्विक स्तर पर तुलना करने के लिए पिछले सालों में आंकड़ों की काफी जांच–पड़ताल होती रही है। खासकर मुद्राओं की अंतर्राष्ट्रीय विनिमय दरों और उनकी स्थानीय क्रय शक्ति के बीच संबंधों पर काफी बातें हुई हैं। इस सबसे क्रय शक्ति समतुल्यता का पैमाना भी निर्धारित किया गया है जिसका अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व बैंक जैसी संस्थाएं इस्तेमाल करती हैं। वैश्विक तुलना के लिए अक्सर इसका भी इस्तेमाल किया जाता है।

अपनी सारी पीठ ठोंकने के बावजूद नीचे की तालिका दिखाती है कि वैश्विक अर्थव्यवस्था में भारत की हैसियत कोई बहुत शानदार नहीं है।

तालिका–17						
वैश्विक घरेलू उत्पाद में हिस्सा (प्रतिशत)						
काल	सं.रा.अमेरिका	यू.के.	जर्मनी	जापान	चीन	भारत
चालू कीमतों पर						
1980	26	5.1	7.7	10	1.9	1.7
1990	26.1	4.6	7	13.8	1.8	1.5
2000	30.9	4.6	5.9	14.5	3.7	1.5
2005	27.7	5	6.1	10	5	1.8
2010	23.1	3.6	5.2	8.7	9.3	2.6
कय शक्ति संतुलन						
1980	24.6	4.3	6.7	8.6	2.2	2.5
1990	24.7	4.1	6.2	9.9	3.9	3.2
2000	23.5	3.6	5.1	7.6	7.1	3.7
2005	22.3	3.4	4.4	6.8	9.5	4.3
2010	19.5	2.9	4	5.8	13.6	5.5
स्त्रोत : Economic Survey 2011-12,Table14.2						

तालिका से दीखता है कि भारत 2005 में भी वहीं था जहां वह 1980 में था। यहां तक कि क्रय शक्ति समतुल्यता भी स्थिति को थोड़ा ही बेहतर बना पाती है। यहां यह याद रखना होगा कि 1750 में भारत विश्व के लगभग पांचवें हिस्से का उत्पादन करना था।

मालों के निर्यात में भारत का विश्व में हिस्सा 1980 में 0.4 प्रतिशत से बढ़कर 2010 में 1.5 प्रतिशत हो गया। लगभग यही हिस्सा भारत का 1950 में भी था। इस बीच चीन का हिस्सा 0.9 प्रतिशत से बढ़कर 10.4 प्रतिशत हो गया।

सेवाओं के निर्यात में भारत की स्थिति मालों के निर्यात से थोड़ी बेहतर है। इससे भारत का हिस्सा 1980 में 0.7 प्रतिशत से बढ़कर 2010 में 3.3 प्रतिशत हो गया।

इस सबके मुकाबले भारत की जनसंख्या का हिस्सा 2010 में विश्व का 17.1 प्रतिशत था।

h. संकट दर संकट

आजादी के बाद की भारत की अर्थव्यवस्था लगातार एक के बाद एक संकट से गुजरती रही है। इन संकटों में कुछ स्थाई प्रकृति के रहे हैं तो कुछ समय–समय पर पैदा होने वाले। स्थाई प्रकृति के संकटों ने तात्कालिक संकटों को जन्म देने या गहराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

स्थाई प्रकृति के संकटों में सर्वप्रमुख कृषि का संकट है। यह खेती के पूंजीवादी रुपान्तरण के पहले भी था और बाद में भी। केवल रुपान्तरण के एक खास चरण में, हरित क्रांति के काल में यह कुछ हलका हुआ था। कृषि के इस संकट से जुड़ा हुआ है देश में खाद्यान्न संकट और बहुत बड़े पैमाने की कंगाली।

समय–समय पर गहराने वाले संकटों में पांच प्रमुख संकट रहे हैं– 1958,1965-67, 1972-74, 1979-80 और 1990-91। महत्वपूर्ण यह है कि ये अर्थव्यवस्था के सामान्य चक्रीय संकट अथवा तेजी–मंदी के संकट नहीं हैं हालांकि इनमें से कुछ का, खासकर 1972-74 और 1979-80 का, विश्व अर्थव्यवस्था के संकटों से संबंध रहा है। 1990-91 में भी वैश्विक घटनाक्रम ने संकट को तीखा किया।

1958 में भारत में विदेशी मुद्रा का संकट पहली दफा गहराया। गौर करने वाली बात है कि अंग्रेजों के जाने के समय भारत का विदेशी भुगतान संतुलन धनात्मक था। 1958 से पहले के साल में खाद्यान्न उत्पादन में कमी आई और खाद्यान्न का आयात करना जरूरी हो गया। इसने न केवल भुगतान संतुलन के संकट को कठिन बनाया बल्कि साम्राज्यवादियों को इस बात का अवसर दिया कि वे नेहरू सरकार को अपनी 'समाजवादी ढंग के समाज' की नीतियों को बदलने के लिए दबाव डाल सकें। साम्राज्यवादी बहुत सफल नहीं हुए पर अब नेहरू भी उतने मजबूत नहीं रह गये। 1957–58 में कृषि उत्पादन में 4.2 प्रतिशत की कमी आई थी जबकि सकल घरेलू उत्पाद 1.4 प्रतिशत गिर गया था।

1965–67 का संकट भारत में सबसे तीखा संकट था और उसने भांति–भांति की राजनीतिक प्रवृत्तियों को भी जन्म दिया। इस संकट ने इसके पहले की चली आ रही नीतियों को किसी हद तक बदलने के लिए शासक वर्ग को मजबूर किया। इसमें साम्राज्यवादियों (खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों) तथा उनकी संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका थी। 1965–66 में कृषि उत्पादन 10.2 प्रतिशत था तथा 1966–67 में 1.3 प्रतिशत गिर गया था। इसने गंभीर खाद्यान्न संकट को जन्म दिया। इसी के साथ भुगतान संतुलन का भी संकट पैदा हुआ। ऐसे में खाद्यान्न और कर्ज हासिल करने के लिए भारत सरकार ने बेहद अपमानजनक शर्तें मानते हुए रुपये का तीखा अवमूल्यन किया तथा कई अन्य नीतियों में परिवर्तन करना स्वीकार किया। खेती में पूंजीवादी विकास का हरित क्रांति का माडल भी इसी संकट के दौरान स्वीकार किया गया। इन दो सालों में सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि (–) 3.4 प्रतिशत तथा 1.2 प्रतिशत रही।

भारत में तीसरा बड़ा संकट एक तरह से दूसरे की निरंतरता में ही था। 1971.72 में फिर कृषि उत्पादन क्रमशः 1.7 प्रतिशत और 4. 6 प्रतिशत गिर गया। इन सालों में सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर 1.0 तथा (–) 0.3 प्रतिशत रही। भारत में स्थिति तब और विकट हो गई जब 1973 में ओपेक देशों द्वारा तेल के दामों में तेज बढ़ोत्तरी के कारण भारत का आयात बिल बहुत बढ़ गया। इससे फिर भुगतान संतुलन का गंभीर संकट खड़ा हो गया। इस संकट ने देश में बड़े पैमाने की अस्थिरता को जन्म दिया जिसकी अंतिम परिणति आपात काल में हुयी। इस संकट ने 1969 से इंदिरा गांधी द्वारा अपनाये गये 'गरीबी हटाओ' के चोले को भी त्यागने के लिए उन्हें मजबूर किया।

वास्तव में देखा जाय तो 1965 से करीब पूरा एक दशक ही भारत में संकट का दौर रहा। नीचे के आंकड़े इसे प्रदर्शित करते हैं :

तालिका–18

औद्योगिक उत्पादन की क्षेत्रवार वृद्धि दर

क्षेत्र	1955-60	1960-65	1965-70	1970-75	1975-80
सामान्य सूचकांक	7.2	9	3.7	3	5.7
इस्तेमाल आधारित वर्गीकरण					
पूंजीगत माल	13.7	19.7	-1.7	5.1	5.9
मध्यवर्ती माल	6.2	7.0	2.5	2.6	5.3
गैर टिकाऊ माल	3.8	3.8	2.6	1.5	5.4
टिकाऊ माल	25.5	10.8	8.5	2.4	8.5
आगत आधारित वर्गीकरण					
कृषि आधारित	3.6	3.8	1.6	1.1	3.5
धातु आधारित	14.0	18.3	0.5	4.2	6.4
रसायन आधारित	9.7	9.0	9.7	5.2	9.2
यातायात यंत्र	1.5	14.2	2.6	3.0	3.7
बिजली	16.0	14.7	11.8	5.6	10.0

स्त्रोत : The Political Economy of Industrialisation वही, Table6.1

1979–80 का संकट दूसरे तेल झटके से संबद्ध था जब दूसरी बार वैश्विक स्तर पर कच्चे तेल के दाम तेजी से बढ़े थे। 1979–80 में कृषि उत्पादन में 12.2 प्रतिशत की गिरावट और सकल घरेलू उत्पाद में 4.9 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गई। इस संकट ने इंदिरा गांधी की सरकार को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से अपमानजनक शर्तों पर)ण लेने पर मजबूर किया हालांकि बाद में हालात बेहतर होने के कारण सरकार ने 1983 में ऋण की तीसरी किश्त नहीं ली। इसी काल से इंदिरा गांधी ने वैश्वीकरण–उदारीकरण की ओर कदम बढ़ाये जिसे बाद में उनके सुफत्र राजीव गांधी ने 'इक्कीसवीं सदी' के नाम पर जोर–शोर से और आगे बढ़ाया।

इस 'इक्कीसवीं सदी' की परियोजना ने 1990–91 में तीखे भुगतान संतुलन को जन्म दिया जिसमें आग में घी का काम किया इराक पर अमेरिकी हमले ने। इसने वैश्विक स्तर पर तेल के दाम फिर बहुत बढ़ा दिये। लेकिन संकट भीतर ही भीतर पहले से परिपक्व हो रहा था। साम्राज्यवादियों और भारत के पूंजीपति वर्ग दोनों ने इसका इस्तेमाल करते हुए पिछले चार दशक से मूलतः चली आ रही नीतियों को आमूल–चूल बदल दिया और भारत ने उदारीकरण–वैश्वीकरण के एक नये दौर में प्रवेश किया।

(i) कुछ सामाजिक सूचकांक

आजादी के बाद के साढ़े छः दशक के पूंजीवादी विकास के बाद भारत कहां खड़ा है? इसके लोगों का जीवन कैसा है? उनके जीवन की गुणवत्ता क्या है? इसे कुछ तालिकाएं प्रदर्शित करती है।

तालिका–19

मानव विकास – 2011 रिपोर्ट में भारत की स्थिति

देश	मानव विकास सूचकांक 2011	मानव विकास सूचकाक 2011 में स्थिति	सकल निविल (2005 पीपीपी पर) प्रति व्यक्ति डालर	जन्म के साथ आयु प्रत्याशा वर्ष	स्कूली शिक्षा के सालों का औसत	स्कूली शिक्षा के सालों की प्रत्याशा
नार्वे	0.943	1	47557	91.1	12.6	17.3
आस्ट्रेलिया	0.929	2	34431	81.9	12.0	18.0
मलेशिया	0.761	1	13685	74.2	9.5	12.6
ब्राजील	0.718	84	10162	73.5	7.2	13.8
चैन	0.687	101	7476	73.5	7.5	11.6
श्रीलंका	0.691	97	4943	74.9	8.2	12.7
भारत	0.547	134	3468	65.4	4.4	10.3
विश्व	0.682		10082	69.8	7.4	11.3

स्त्रोत : Economy Survey 2011-12, Table 13.2

तालिका दिखाती है कि भारत हर मामले में विश्व के औसत से नीचे है। कुछ और तुलनात्मक आंकड़े इस और तीक्ष्णता से दिखाते हैं।

तालिका–20

वयस्क शिक्षा (प्रतिशत)

देश	1960	1975	1990	2000
भारत	28	36	48	57
चैन	-	69	73	85
दक्षिण कोरिया	71.0	93.0	96.0	98.0
थाईलैंड	68.0	84.0	93.0	95.0
फिलीपीन्स	72.0	87.0	90.0	95.0
ब्रजील	61.0	76.0	81.0	87.0

स्त्रोत : Economic Reforms, वही, Table 21.1

तालिका–21				
शिशु मृत्यु दर (प्रति 1000 जीवित जन्म पर)				
देश	1960	1970	1991	2000
भारत	-	137	90	68
चैन	-	69	38	32
दक्षिण कोरिया	62	51	16	5
थाईलैंड	-	73	27	25
फिलीपीन्स	98	66	41	30
ब्रजील	128	95	58	32
स्त्रोत : Economic Reforms, वही, Table 21.1				

हम भुखमरी–कंगाली के आंकड़े नहीं दे रहे हैं जिसमें हेरा–फेरी करने के मामले में भारत सरकार सारी हदें पार कर चुकी है। इस संबंध में बस इतना ही इंगित करना है कि गैर सरकारी विशेषज्ञ भुखमरी की रेखा के नीचे की आबादी पचास प्रतिशत से लेकर **85** प्रतिशत तक बता रहे हैं। असंगठित क्षेत्र के लिए गठित आयोग इन सबकी फष्टि करता लगता है। इसी तरह रोजगार और उसकी गुणवत्ता के बारे में भी बात करने की जरूरत नहीं है जिस पर यही आयोग बहुत विस्तार से रोशनी डाल चुका है।

II
भारत के आर्थिक विकास का राजनीतिक अर्थशास्त्र

आजादी के बाद के साढ़े छः सालों के काल को देश के पूंजीवादी विकास के संदर्भ में लगभग दो बराबर हिस्सों में बांटा जा सकता है। पहला काल **1980** तक है और दूसरा उसके बाद का। पहला 'हिन्दू विकास दर' का काल है, दूसरा उसे छोड़कर आगे बढ़ने का। पहला आयात प्रतिस्थापन वाली लगभग बंद अर्थव्यवस्था का है तो दूसरा क्रमशः उदारीकरण–वैश्वीकरण की ओर बढ़ती अर्थव्यवस्था का। पहला 'कल्याणकारी राज' और 'समाजवादी ढंग के समाज' की बात करने का काल है तो दूसरा बाजार की शक्तियों को उन्मुक्त खोल देने का।

परन्तु दोनों में कुछ तत्व इधर–उधर भी संक्रमित करते हैं। दोनों कालों को फनः दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। पहले काल में एक चरण **1965** तक का है तो दूसरा **1965** से **1980** तक का। दूसरे काल में एक चरण **1980** से **1991** तक का है तो दूसरा **1991**के बाद का। **1965–80** और **198–91** के चरण संक्रमण कालीन हैं और उनमें कुछ समानताएं भी हैं। साम्राज्यवादी दबाव के तहत उदारीकरण के कुछ कदम **196–80** में उठाये गये। इसी तरह **198–91** में उदारीकरण–वैश्वीकरण की ओर बढ़ने के बावजूद नीतियों का ेमवर्क फराना बना रहा और उनमें गुणात्मक बदलाव **1991** से ही आया।

A. 1947 से 1965 का काल

जब भारत के पूंजीपति वर्ग ने 1947 में सत्ता संभाली तो उसके सामने उसकी सीमाएं और संभावनाएं स्पष्ट थीं। दुनियॉ की स्थिति भी उसके सामने स्पष्ट थी। इसी में उसे अपना रास्ता बनाना था।

भारत के पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवादियों और भारत की अंदरूनी सामंती शक्तियों दोनों से समझौता कर सत्ता हासिल की थी। इन्हें उनका देय मिलना था। सामंती शक्तियों को भारत के पूंजीपति वर्ग ने इस शर्त पर अपने साथ लिया कि वे अपना पूंजीवादी रूपान्तरण करेंगे और इसके लिए उन्हें पूरा मौका भी दिया जायेगा। उनकी सम्पत्ति को हाथ नहीं लगाया जायेगा। इसी के तहत उन्हें सत्ता में भी किसी हद तक भागीदारी मिली लेकिन पूंजीपति वर्ग के मातहत। राजे–रजवाड़ों और बड़े सामंतों को भी इसी प्रक्रिया के तहत समाहित किया गया।

दूसरी ओर साम्राज्यवादियों के साथ समझौता हुआ कि उनकी सम्पत्ति को हाथ नहीं लगाया जायेगा। लेकिन तब साथ ही यह भी था कि भारत का पूंजीपति वर्ग अपनी जरूरतों के हिसाब से भविष्य में साम्राज्यवादी पूंजी को नियंत्रित करेगा–उसके देश में आगमन को भी और देश में परिचलन को भी।

ऐसा करते हुए पूंजीपति वर्ग ने एक झटके से देश की बहुलांश आबादी यानी किसानों को देश के पूंजीवादी विकास में एक खास स्थिति में डाल दिया। आजादी के समय तक भारत के पूंजीपति वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस किसानों से भूमि सुधार (प्रमुखतः भूमि वितरण) का वायदा करती रही थी। इसमें प्रकारान्तर से यह ध्वनि निकलती थी कि भविष्य के पूंजीवादी विकास का आधार किसान होंगे। लेकिन देश की सामंती शक्तियों से समझौता करके पूंजीपति ने किसानों को भूमि मिलने की संभावना से वंचित कर दिया और फरानी सामंती शक्तियों को नये भूस्वामियों में रूपान्तरित कर पूंजीवादी विकास का रास्ता ग्रहण किया।

किसानों से वादाखिलाफी भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए एक सहज बात थी। एक खास किस्म के विकास के चलते उसकी इन फरानी शक्तियों से ज्यादा एकता बनती थी। इनकी नये–फराने शासक वर्ग होने की भी एकता थी। लेकिन इन सबसे बड़ी बात थी भूमि सुधार और बड़े पैमाने पर सम्पत्ति वितरण में निहित गंभीर खतरा। भारत का मजदूर वर्ग न केवल परिपक्व था बल्कि वह अपनी पार्टी, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी में संगठनबद्ध भी था। दुनिया की सारी फिजा मजदूरों–किसानों की क्रांतियों की ओर, समाजवाद की ओर थी। ऐसे में देश में सम्पत्ति के फनर्वितरण का कोई भी प्रयास बिल्कुल भिन्न दिशा में जा सकता था। सारा देश ही तेलंगाना और तेभागा बन सकता था। इसीलिए भारत के पूंजीपति वर्ग ने तेलंगाना–तेभागा को संगीनों से कुचल डाला और किसानों को भूमि वितरित करने से तौबा कर ली। भारत के पूंजीपति वर्ग के सुयोग्य प्रतिनिधि जवाहर लाल नेहरू ने तो इसे शब्दशः स्वीकार भी किया था।

किसानों से वादाखिलाफी करके और सम्पत्ति के वितरण को जस का तस बनाए रखते हुए भारत के पूंजीपति वर्ग ने 'समाजवादी ढंग के समाज' का निर्माण शुरू किया। जैसा कि भारत के पूंजीपति वर्ग को 1944 में ही स्पष्ट था, इस पूंजीवादी विकास में सरकार की प्रमुख भूमिका होनी थी। रेल को छोड़कर अवरचनागत ढांचा न के बराबर था। एकाध इस्पात कारखानों को छोड़कर आधारभूत उद्योग नहीं थे। मशीन और इंजीनियरिंग उद्योग नहीं था। इन सबको एक लम्बी अवधि में विकसित होने के लिए निजी पूंजीपतियों पर नहीं छोड़ा जा सकता था। वैसे तो भारत का पूंजीपति वर्ग अपनी पैदाइश से ही एकाधिकारी था पर यह उपरोक्त बड़े कार्य के लिए बहुत छोटा था। इसमें मुनाफा भी देर से और कम मिलना था। इसीलिए इन सबको सरकार द्वारा विकसित किया जाना था। इसके लिए एक सार्वजनिक क्षेत्र खड़ा किया गया।

इस तरह सरकार और निजी पूंजीपतियों के बीच एक तरह का श्रम विभाजन हो गया। अवरचनागत क्षेत्र और पूंजीगत मालों को पैदा करने वाला क्षेत्र सरकार के हिस्से में आया। उपरोक्त मालों का क्षेत्र निजी पूंजीपतियों के हिस्से। कुछ उद्योग दोनों के लिए मिले–जुले रहे।

इसके साथ यह भी था कि भारत के इस औद्योगीकरण को विदेशी पूंजी से बचाने के लिए संरक्षित भी करना था। इस सबके लिए नियमों–कानूनों और संस्थाओं का एक पूरा ताना–बाना खड़ा किया गया। देश के भीतर और बाहर पूंजी के प्रवाह पर तथा मालों के आवागमन पर नियंत्रण कायम किया गया।

यहां यह ध्यान देने की बात है कि द्वितीय विश्व युद्ध के काल में अर्थव्यवस्था में सरकार द्वारा इस तरह का दखल कोई अजूबी बात नहीं थी। स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका से लेकर इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, जापान तक अर्थव्यवस्था में सरकारों का भारी दखल था। बहुत बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र, सरकार द्वारा मालों–सेवाओं की बड़े पैमाने पर मांग और पूर्ति, अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर सरकार का नियंत्रण (ब्रेटन वुड्स व्यवस्था) तथा 'कल्याणकारी राज' सब उस जमाने में बहुत आम था। इस सबमें कुछ भी समाजवादी नहीं था। था तो बस तब दुनिया में मौजूद समाजवादी व्यवस्था और मजदूर वर्ग के बड़े संघर्षों का पूंजीपति वर्ग पर दबाव। साथ ही थीं 1930 की महामंदी की विभीषिका की परछाइयां। स्वयं भारत के ब्रिटिश शासन ने ही अपने अंतिम वर्षों में बहुत सारे नियंत्रणकारी नियम–कानून बनाए थे।

इस तरह के पूंजीवादी विकास का रास्ता चुनने पर पूंजीपति वर्ग और सरकार के सामने बड़ा सवाल पूंजी निर्माण के लिए संसाधनों का था। एक बार सामंती शक्तियों की संपत्ति को उनके हाथों में छोड़ देने के बाद जो दूसरे रास्ते बचते थे उनमें से एक था विदेशों से पूंजी की प्राप्ति और दूसरा था खेती से अधिशेष की प्राप्ति।

पश्चिमी साम्राज्यवादी दुनिया से अपने बाजार को संरक्षित करने की पूंजीपति वर्ग को चिंता थी और उसकी नीति भी थी। ऐसे में वहां से मनचाही शर्तों पर पूंजी हासिल करना कोई आसान काम नहीं था। भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए ऐसे में समाजवादी खेमे की मौजूदगी काम आयी। उसने साम्राज्यवादी और समाजवादी खेमे के बीच संघर्ष में गुट निरपेक्ष का बाना धारण किया और दोनों ही खेमों से अपना मतलब साधने की कोशिश की। यह कोई आसान काम नहीं था। यह तनी हुयी रस्सी पर चलने के समान था पर भारत का पूंजीपति वर्ग कभी इधर और कभी उधर झुकते हुए इस रस्सी पर चलने लगा। लेकिन भारत में पश्चिमी साम्राज्यवादियों की पहले से चली आ रही मौजूदगी के कारण उनकी पूंजी ज्यादा प्रभावी रही। फर्क बस इतना हुआ कि अब ब्रिटिश पूंजी के बदले अमेरिकी पूंजी प्रमुख हो गई।

जहां तक किसानों और कृषि का सवाल है, तब भारत के पूंजीपति वर्ग और उसकी सरकार ने इसके लिए कोई विशेष योजना नहीं बनाई। बस कुछ सिंचाई परियोजनाओं को हाथ में लिया गया। इस काल में ऊपरी तौर पर लगातार जमीन के किसानों में वितरण और यहां तक कि ये सब महज बातें हैं। पूंजीपति वर्ग और सरकार की असल मंशा खेती को क्रमशः देश के एकीकृत बाजार से जोड़ने और उसमें पूंजीवादी रूपान्तरण की थी। यह प्रक्रिया धीमे–धीमे स्वतः होनी थी और इसमें प्रमुख भूमिका उन भू–स्वामियों को निभानी थी जिनके हाथों में ज्यादातर जमीन थी।

यहां यह याद रखना होगा कि अंग्रेजों के जमाने में देश के उत्तर और पश्चिम हिस्सों में रैयतबाड़ी और महालबाड़ी प्रथा थी। इनमें किसी हद तक खेती में बाजार का प्रवेश हुआ था, धनी किसान और पूंजीवादी भू–स्वामी पैदा हुए थे। जमींदारी प्रथा वाले इलाके में जमींदारी प्रथा और मध्यस्थता का उन्मूलन करके सरकार यहां भी ऐसे भू–स्वामियों को उभरने का मौका देना चाहती थी। जमींदारी और मध्यस्थता उन्मूलन से मध्यम जातियों के कुछ हिस्सों को खुदकाश्त के जरिये यह मौका मिलना था। स्वयं फराने भूस्वामियों को अपने पूंजीवादी रूपान्तरण का मौका मिलना था।

खेती के बाजार से जुड़ने और उसके क्रमिक रूपान्तरण के जरिये खेती में पैदा अधिशेष का एक हिस्सा उद्योगों को स्थानान्तरित होना था। यह मूलतः खेती में कृषि आगतों से ज्यादा दाम के जरिये होना था। भारत में खेती की आज दुर्दशा और देहातों की भयंकर कंगाली की स्थिति को देखते हुए यह बहुत भयानक कदम था। लेकिन पूंजीपति वर्ग को इसकी कब चिंता होने लगी।

इसी का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों के जमाने की गति को छोड़ देने के बावजूद कृषि में उत्पादन में वृद्धि दर लगातार जनसंख्या की विकास दर के आस–पास बनी रही। कहने की बात नहीं कि जो भी विकास हुआ उसका फायदा बड़े भूस्वामी ले गये। इनके और मध्यम किसानों के बीच से धनी किसानों, कुलकों और पूंजीवादी फार्मरों का एक देहाती पूंजीपति वर्ग पैदा होना शुरू हुआ।

बड़ी पूंजी और बड़े भूस्वामियों को ध्यान में रख कर किये जा रहे इस पूंजीवादी रूपान्तरण में पूरक के तौर पर कुटीर उद्योग, लघु उद्योग इत्यादि की भी बात की गई पर इसका कोई खास मतलब नहीं था, बिलकुल वैसे ही जैसे खेती में सहकारिता का कोई मतलब नहीं था। ज्यादातर जमीन को बड़े भूस्वामियों के हाथ में छोड़कर गरीब छोटे किसानों को सहकारिता में शामिल होने की बात की जा रही थी और ज्यादातर निजी पूंजी को बड़े एकाधिकारी घरानों के हाथ में छोड़कर कुटीर और लघु उद्योगों की बात की जा रही थी। गांधी का योग्य शिष्य नेहरू धोखा देने में भी गांधी की तरह योग्य निकला।

लेकिन देश के इस पूंजीवादी रूपान्तरण और विकास की प्रक्रिया में ही संकट अंतर्निहित था। पूंजीवादी दायरे में विकास के लिए वह रास्ता नहीं अपनाया गया था जो साम्राज्यवादियों के नियंत्रण में दक्षिण कोरिया में अपनाया गया यानी फराने भूमि सम्बन्धों का बलपूर्वक खात्मा तथा जमीन का फनर्वितरण। 1957–58 के पहले संकट ने ही इसे स्पष्ट कर दिया।

विश्व पूंजीवाद के इस बाद के दौर में, जब समूची पूंजीवादी व्यवस्था अवसान की ओर अग्रसर हो और जब उस पर साम्राज्यवादियों का नियंत्रण हो तब वैसे भी किसी पूर्व औपनिवेशिक देश में पूंजीवादी विकास की बहुत सीमाएं हैं। उस पर भारत के पूंजीपति वर्ग ने जो रास्ता चुना उसने इन सीमाओं को और ज्यादा बढ़ा दिया।

इस काल की समाप्ति होते–होते इस काल की उपलब्धियां और परिणतियां दोनों सामने आ गईं। यह काल लगभग पूरा का पूरा नेहरू का काल था और अपने अंतिम समय नेहरू के लिए भी स्पष्ट हो गया था कि उनके नेतृत्व में पूंजीपति वर्ग का भारत कहां पहुंचा है।

इसमें दो राय नहीं कि तीन पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं में जिस सार्वजनिक क्षेत्र का निर्माण किया गया उससे देश में एक आधारभूत ढांचा खड़ा हो गया। इसके साथ यह भी हुआ इन सालों में देश के एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग ने खूब तरक्की कर ली। उसने इतनी तरक्की और मजबूती हासिल कर ली कि वह अब नियंत्रणवादी–संरक्षणवादी नीतियों के तहत अपने लिए ज्यादा खुल कर खेलने देने की मांग करने लगा। उसका आत्म विश्वास काफी बढ़ गया था।

इस पूंजीवादी विकास का परिणाम यह भी हुआ कि देश में दो और वर्ग अपने हिस्से की मांग करते हुए आगे आये।

सार्वजनिक क्षेत्र के बड़े पैमाने पर विस्तार और नियमन–नियंत्रण की एक बड़ी मशीनरी के चलते नौकरशाह पूंजीपतियों की एक नयी जमात सामने आयी। वैसे यह अंग्रेजों के जमाने की ही नौकरशाही का विस्तार थी पर अब इसने गुणात्मक छलांग लगा ली थी। यदि सार्वजनिक क्षेत्र पूरी अर्थव्यवस्था में नियंत्रणकारी स्थिति में था तो यह जमात इसके चालक की गद्दी पर बैठा था। यह वर्ग मूलतः किरायाजीवी था और घूसखोरी–बेईमानी के जरिये फल–फूल रहा था लेकिन वह अपनी सम्पत्ति का निवेश भी कर रहा था। यह भारत के समूचे पूंजीपति वर्ग का हिस्सा था लेकिन इसके बड़े एकाधिकारी पूंजीपतियों से अंतर्विरोध भी थे। ये अंतर्विरोध तब ज्यादा मुखर हो जाते थे जब एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग नियमन–नियंत्रण की व्यस्वस्था को समेटने की ओर सार्वजनिक क्षेत्र में कटौती की बात करता था।

पूंजीपति वर्ग का दूसरा नया हिस्सा पैदा हुआ खेती से इस काल में खेती में जो भी पूंजीवादी विकास हुआ उसका लाभ बड़े भूस्वामियों और कुछ मध्यम किसानों (कुछ मध्यम जातियों के भी) ने उठाया। इनसे धनी किसानों कुलकों और पूंजीवादी फार्मरों का वर्ग पैदा हुआ। (स्वभावतः ही खेती में ध्रुवीकरण के चलते खेतिहर सर्वहारा भी तेजी से बढ़ा।)

यहां यह रेखांकित करना होगा कि इस काल में खेतिहर पूंजीपति वर्ग के साथ एक क्षेत्रीय पूंजीपति वर्ग भी पैदा हुआ जो अक्सर ही मध्यम स्तर का होता था। यह क्षेत्रीय पूंजीपति वर्ग खेतिहर और देहाती पूंजीपति वर्ग के साथ कई बार घुला–मिला होता था।

इन खेतिहर, देहाती और क्षेत्रीय पूंजीपतियों के देश के एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग से अंतर्विरोध थे खासकर इसलिए कि केन्द्र की सत्ता में वही हावी था और देश की सारी आर्थिक गति केन्द्र से तय हो रही थी।

1965 के बाद करीब दशक भर तक देश में जो संकट आया उसमें पूंजीपति वर्ग के इन विभिन्न हिस्सों के आपसी टकराव की महत्वपूर्ण भूमिका थी। टकराव इस बात का था कि अब देश के पूंजीवादी विकास की कौन सी दिशा अख्तियार की जाय और उसका किसे कितना लाभ मिले।

लेकिन पूंजीपति वर्ग के इन विभिन्न हिस्सों का आपसी टकराव ज्यादा आसानी से सुलझ जाता यदि संकट में एक दूसरा पहलू शामिल न होता। यदि पूंजीवादी अर्थशास्त्र की भाषा में बात कहें तो इसमें आपूर्ति पर तो सारा जोर था पर मांग का पहलू गायब था। मतलब यह कि पूंजीवादी विकास के फलस्वरूप पैदा हो रहे माल की खपत के लिए क्रयशक्ति का विकास नहीं हो रहा था। देहातों में गरीब–छोटे किसानों की कंगाली और शहरों–देहातों दोनों में मजदूरों की शोचनीय स्थिति कोई महत्वपूर्ण क्रयशक्ति नहीं पैदा कर सकती थी। खेती में धीमा विकास औद्योगिक मालों के लिए कोई तेजी से विकसित होता बाजार नहीं मुहै,या करा सकता था।

इससे न केवल पूंजीवादी विकास की आम गति संकटग्रस्त और धीमी हो गयी बल्कि इसमें बड़े पैमाने के सामाजिक असंतोष और उथल–फथल को जन्म दिया। 1965–66 के खाद्य दंगों से लेकर नक्सलवादी आंदोलन और फिर आपातकाल तक का यह सफर निश्चित तौर पर आजादी के बाद भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए सबसे संकटपूर्ण समय था।

(B) 1965–1980 का काल

जैसा कि कहा जाता है कि हर संकट एक अवसर होता है और साम्राज्यवादियों और भारत के पूंजीपति वर्ग ने इस अवसर को दोनों हाथों से लपक लिया।

पिछले काल में भारत की अर्थव्यवस्था जिस हद तक बंद और नियमन–नियंत्रण वाली थी वह साम्राज्यवादी पूंजी के लिए भारत में अवसर अत्यंत सीमित कर देती थी। साथ ही यह भी था कि साम्राज्यवादी पूंजी अब स्वयं साम्राज्यवादी देशों में नियमन–नियंत्रण से मुक्ति के लिए छटपटाने लगी थी हालांकि इसमें उसे पूरी कामयाबी 1970 व 1980 के दशक में मिली।

इस संकट का इस्तेमाल करके साम्राज्यवादियों और भारत के बड़े पूंजीपति वर्ग ने दो चीजें हासिल की। एक तो हरित क्रांति और दूसरे उद्योगों में देशी–विदेशी पूंजी को थोड़ी छूट।

भारत के पूंजीपति वर्ग में एक धड़ा हमेशा से था जो देश की खेती में पूंजीवादी विकास के लिए हरित क्रांति जैसी किसी तकनीकी प्रक्रिया का समर्थक था। इनके मुकाबले में भूमि सुधार और सहकारिता की जुबानी खर्च करने वाले लोग थे। लेकिन नेहरू के जमाने तक आधारभूत ढांचा खड़ा करने की प्राथमिकता के चलते ये लोग हावी थे। वैसे सभी पक्षों के लिए स्पष्ट था कि कृषि में हरित क्रांति जैसी किसी तकनीकी प्रक्रिया के लिए भी देश में एक आधारभूत ढांचा होना जरूरी है अन्यथा खेती पूरी तरह से विदेशी पूंजी पर निर्भर हो जायेगी जो भारत के पूंजीपति वर्ग को स्वीकार नहीं था। अब जबकि एक आधारभूत ढांचा खड़ा हो गया था और खेती में हरित क्रांति के लिए धनी–किसानों, पूंजीवादी भूस्वामियों की एक जमात उभर कर आ गई थी तब हरित क्रांति जैसी चीज को अंजाम दिया जा सकता था।

इस तरह हरित क्रांति एक तरह से उस चीज के विकल्प के तौर पर सामने आई जिसे आजादी के बाद से पूंजीपति वर्ग ने अंजाम नहीं दिया था यानी भूमि का किसानों में वितरण और खेती में इन किसानों पर आधारित पूंजीवादी विकास। हरित क्रांति मूलतः जमीन के फराने वितरण को बनाये रखते हुए बड़े भूस्वामियों पर आधारित थी। यह दक्षिण कोरिया से इतर अन्य देशों में अमेरिकी साम्राज्यवादियों की परियोजना थी।

हरित क्रांति में अमेरिकी साम्राज्यवादियों का तात्कालिक हित कृषि आगतों की बिक्री और उनके उत्पादन में पूंजी निवेश था। लेकिन दूरगामी तौर पर यह दूसरे देशों की खेती को अमेरिकी पूंजी पर निर्भर बनाने और अमेरिकी कृषि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के विकास की परियोजना थी।

कुछ अपनी गति में और कुछ साम्राज्यवादियों के दबाव में भारत के पूंजीपति वर्ग ने हरित क्रांति का रास्ता स्वीकार कर लिया। ऐसा करके भारत के एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग ने खेतिहर पूंजीपतियों से अपने अंतर्विरोध को कम करने का रास्ता चुना लेकिन वास्तव में एक अन्य कोण से यह अंतर्विरोध बाद में ज्यादा तीव्र हो गया। यह भी स्वयं हरित क्रांति का परिणाम था और इसने सबसे तीखी अभिव्यक्ति पाई पंजाब के खालिस्तानी आंदोलन में।

1965–67 का काल पहला ऐसा समय था जब भारत के पूंजीपति वर्ग को साम्राज्यवादियों के सामने झुकना और अपमानित होना पड़ा। इसकी शुरुआत रुपये के बड़े स्तर के अवमूल्यन से हुई थी। रुपये का अवमूल्यन इस बात का सूचक था कि भारत सरकार अपनी कुल नीतियों में कुछ फेरबदल करने को राजी है हालांकि मूलभूत नीतियां वही रहनी थीं। इस फेरबदल में निजी कंपनियों को ज्यादा क्षेत्रों में निवेश की छूट, विदेशी पूंजी को भी ज्यादा क्षेत्र में निवेश की छूट तथा आयात–निर्यात में ज्यादा छूट शामिल थी।

इस फेरबदल से भारत के पूंजीपति वर्ग ने अपनी आयात प्रतिस्थापन वाली अर्थव्यवस्था को नये सिरे से गतिमान करने का प्रयास किया। खासकर उसने सोचा कि देश में हरित क्रांति से एक तो खाद्यान्न संकट हल होगा दूसरी ओर औद्योगिक मालों के लिए देहातों में मांग पैदा होगी। परन्तु हरित क्रांति देश के कुछ थोड़े से सिंचित इलाके में ही लागू की गई थी। देश की ज्यादातर खेती इसके दायरे में

नहीं थी। कुछ थोड़ी सी खेती में नई तकनीक से कुछ उत्पादन बढ़ाकर उस खाद्यान्न को हासिल किया जा सकता था जिसके अभाव में भारत का पूंजीपति वर्ग संकट में पड़ जाता था पर इससे किसी मूलभूत समस्या का समाधान नहीं होता था।

इस तरह देहातों में कोई खास मांग पैदा नहीं हुई। फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन ने भी कोई रफतार नहीं पकड़ी। 1965–67 के संकट से निकलकर भी समूची अर्थव्यवस्था हिचकोले खाती हुई बहुत धीमी गति से बढ़ती रही।

इस सबके फलस्वरूप मजदूर वर्ग और गरीब आबादी में जो असंतोष फूटा उसने पूरे मामले को जटिल बना दिया तथा भांति–भांति के समीकरणों को जन्म दिया। एक ओर इंदिरा गांधी ने प्रगतिशीलता का बाना ओढ़ते हुए बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया और इस तरह देहातों में हरित क्रांति के विकास का मार्ग प्रशस्त किया तो दूसरी ओर इसी हरित क्रांति की पैदावार कुलकों ने इंदिरा सरकार के खिलाफ संघर्ष छेड़ा और 1977 की जनता सरकार में इंदिरा विरोधी कांग्रेसियों के साथ शामिल हुये।

देश के देहाती और क्षेत्रीय पूंजीपतियों ने कुछ प्रदेशों में 1967 की गैर कांग्रेसी सरकारों के रूप में अपनी पहली मुखर अभिव्यक्ति पाई। बैंकों के राष्ट्रीयकरण, इनके देहाती इलाकों में विस्तार और प्राथमिकता के आधार पर कर्ज, छोटे–मध्यम उद्योगों को प्रोत्साहन इत्यादि के रूप में इंदिरा सरकार ने इन्हें समाहित करने की कोशिश की। बैंकों के राष्ट्रीयकरण से गांवों तक की छोटी–छोटी बचतों का केन्द्रीकरण हुआ था इसलिए देश का बड़ा पूंजीपति वर्ग भी इस समाहन के खिलाफ नहीं था। परन्तु देहाती और क्षेत्रीय पूंजीपति अपने लिए कुछ टुकड़ों से संतुष्ट नहीं थे। वे ज्यादा बड़े हिस्से की मांग कर रहे थे। पंजाब का अकाली आंदोलन अपने सारतत्व में यही था जो इंदिरा सरकार द्वारा छल नियोजित किये जाने के कारण अंततः अलगाववादी खालिस्तानी आंदोलन में रूपान्तरित हो गया।

1972–74 में जब एक बार फिर कृषि उत्पादन में कमी और कच्चे तेल के दामों में बढ़ोत्तरी के फलस्वरूप संकट गहराया और इसने राजनीतिक संकट का रूप लेना शुरू किया तो भारत के बड़े एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग ने इंदिरा सरकार का समर्थन किया। जब आंदोलनों, संघर्षों और उथल–फथल को कुचलने के लिए इंदिरा सरकार ने दमन शुरू किया तो पूंजीपति वर्ग की पूरी सहमति से। और जब इंदिरा गांधी ने देश पर आपातकाल थोप दिया तो एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग ने राहत की सांस ली। अंततः बढ़ती अराजकता पर काबू पा लिया गया था। बाद में इंदिरा गांधी को प्रतिस्थापित करने वाली जनता सरकार से भी उसे कोई परेशानी नहीं हुई क्योंकि अब शांति स्थापित हो गयी थी और यह सरकार भी बड़े एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग के ेमवर्क में ही चल रही थी।

लगातार संकटग्रस्तता के बावजूद इस काल ने भारत के पूंजीपति वर्ग के आगे विकास का मार्ग प्रशस्त किया। पहली बात तो यही कि धीमी विकास दर के बावजूद जो कुछ भी विकास हो रहा था उसका बहुत बड़ा हिस्सा एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग की ओर जा रहा था। वह लगातार शक्तिशाली हो रहा था। अब तो वह विदेशों में भी पांव पसारने लगा था। दूसरे यह कि हरित क्रांति एक इलाके से दूसरे इलाके में प्रसारित हो रही थी और देहातों में पूंजीवादी संबंधों को मजबूत कर रही थी। बहुत दूर–दराज के इलाके भी धीमे–धीमे बाजार से जुड़ते जा रहे थे। जैसा कि पहले कहा गया है बैंकों के राष्ट्रीयकरण ने इसमें बड़ी भूमिका निभाई थी। इसी से यह भी स्पष्ट है कि क्यों उस दौर में जब निजी पूंजी को पहले से ज्यादा छूट मिली तब बैंकों के राष्ट्रीयकरण जैसा कदम उठाया गया। जिस तरह नेहरू के 'समाजवादी ढंग के समाज' में समाजवाद का कोई अंश नहीं था उसी तरह इंदिरा गांधी के 'गरीबी हटाओ' में गरीबों के लिए कुछ नहीं था। जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया जब इंदिरा गांधी ने जन आंदोलनों को कुचलने के लिए हर तरह के दमन का सहारा लिया।

शासक वर्गों के भीतर इस काल में जो आपसी अंतर्विरोध तीखा हुआ था और जिसने अपनी परिणति अंततः कांग्रेसी सरकार की जनता सरकार से प्रतिस्थापना में पाई, वह किसी हद तक धूमिल तो हो गया पर बना रहा। जनता सरकार प्रयोग ने यह भी दिखाया कि एकाधिकारी पूंजी के समर्थकों (भारतीय जनसंघ तथा भूतपूर्व कांग्रेसियों) तथा क्षेत्रीय और देहाती पूंजीपति वर्ग के समर्थकों का इस तरह एक साथ आना इनके बीच के अंतर्विरोधों को हल करने को कोई उपयुक्त तरीका नहीं था। यह अजीबोगरीब खिचड़ी थी जिसमें एकाधिकारी पूंजी और देहाती–क्षेत्रीय पूंजी के समर्थक एक साथ, एक बराबर बैठा दिये गये थे। इसमें मोरारजी देसाई और चरणसिंह एक साथ, एक बराबर थे। यह नहीं चल सकता था और नहीं चला। बाद में ठीक इसी कारण इसका दूसरा मॉडल–1989 की जनता दल सरकार–भी नहीं चली। 1996–97 के तीसरे प्रयास का भी यही हश्र हुआ। दूसरे और तीसरे में केवल यही फर्क था कि दूसरे को भाजपा का समर्थन हासिल था तो तीसरे को कांग्रेस का। अब कहीं संप्रग और राजग के रूप में इस अंतर्विरोध के समाधान का ज्यादा उपयुक्त तरीका ढूंढा जा सका है जो 'ट्रायल एवं एरर' के द्वारा व्यवहार में ही अस्तित्व में आया।

यह स्वाभाविक था कि जनता सरकार ने अपने छोटे से कार्यकाल में देहाती और क्षेत्रीय पूंजीपतियों के लिए कुछ करने के प्रयास किये। इसी तरह इसने छोटे–मझोले उद्यमों को भी कुछ बढ़ावा दिया। परन्तु इस सबके बावजूद वह फरानी नीतियों पर ही मूलतः चलती रही। एकाधिकारी पूंजी के हित और गति सुरक्षित थी।

(C) 1980–91 का काल

जैसा कि पहले कहा गया है 1980–91 का काल वह काल था जिसमें भारत की अर्थव्यवस्था ने अपनी 'हिन्दू विकास दर छोड़ी। उदारीकरण–वैश्वीकरण के समर्थकों ने इसे 1980 के दशक में लागू की गई उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों का परिणाम माना। परन्तु वास्तव में इसकी पृष्ठभूमि पहले से तैयार हो गई थी और उस पृष्ठभूमि के बिना यह संभव न हो पाता।

सब कुछ के बावजूद भारत का एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग मजबूत होता गया था और अब वह स्थिति में पहुंच गया था कि सरकारी नियंत्रण से मुक्त अपने विकास के रास्ते पर चल सके। इस आश्वस्ति के साथ सरकार उसके साथ खड़ी है। 1980 का दशक एक तरह से पानी की थाह लगाने का दशक था और दशक के अंत में पूंजीपति वर्ग ने अपने सारे बंधन तोड़ दिये।

1947 से 80 तक का भारत का विकास भारत के एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग का विकास था, उसके लिए विकास था। हां, उसके साथ भारत के पूंजीपति वर्ग के कुछ अन्य हिस्से भी फले–फूले। इसमें देहाती और क्षेत्रीय पूंजीपति वर्ग तथा नौकरशाह पूंजीपति वर्ग प्रमुख था।

जब 1979–80 में पहले के संकटों की तरह संकट का एक झोंका आया तब पहले की तरह ही साम्राज्यवादी दबाव और भारतीय एकाधिकारी पूंजीपतियों की इच्छा के तहत देश की नीतियों में फिर कुछ फेर बदल हुए। लेकिन इस बार के फेर–बदल फरानी नीति के तहत ेमवर्क में महत्तम फेर बदल थे। इससे आगे तो फराने ेमवर्क को तोड़कर ही जाया जा सकता था और उसे 1991 में तोड़ दिया गया। यह अलग बात है कि फराने ेमवर्क को छोड़ने के लिए जरूरी आवेग प्रदान करने का और पहले की तरह जरूरी संकट मुहै ुया कराने का काम इसी फेर–बदल ने किया। कह सकते है दशक भर से इकट्ठी हो रही मात्रा 1991 में गुण में रूपान्तरित हो गई। सभी चीजें एक नये चरण में पहुंच गईं।

1979–80 का संकट भी कृषि संकट और तेल संकट का मिला–जुला परिणाम था। जब इस संकट से पैदा मुद्रा भुगतान के संतुलन से निपटने के लिए सरकार अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के पास गई तो मुद्राकोष ने यथा प्रथा अपनी शर्तें दीं। सामाजिक राजनैतिक परिदृश्य के भीतर तीन महत्वपूर्ण अंतरसंबन्धित विकासक्रमों को पहले से ध्यान में रखा जा सकता है। पहला राष्ट्र रूप की नवउदारवादी

धारणा को माल के रूप में देखने की जिसमें भारत 1990 के दशक के आर्थिक उदारीकरण के बाद से पहले से ही रूपांतरित हो चुका है। अब राष्ट्र की योग्यता को इसके द्वारा क्षेत्र हासिल शर्तें देश के लिए तो अपमानजनक थीं। पर सरकार और एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग इसके लिए तैयार था।

असल में इंदिरा गांधी जब 1980 में दुबारा सत्ता में आई तो वे उसी रास्ते पर चल रही थीं जो उन्होंने 1973–74 में पकड़ा था। बस इस बार पहले वाला दमन नहीं था। वह भी इसीलिए कि पहले की तरह अब उतनी उथल–फथल नहीं थी।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की शर्तों पर कर्ज लेते हुए इंदिरा गांधी ने उदारीकरण–वैश्वीकरण की ओर कदम बढ़ाये। निजीकरण अभी नहीं था क्योंकि संगठित मजदूर वर्ग अभी भी काफी मजबूत था। ये नीतियां भारत के पूंजीपति वर्ग की अपनी थीं यह इसी से पता चलता है कि भारत सरकार ने 1983 में उपरोक्त कर्ज की तीसरी और अंतिम किश्त नहीं ली लेकिन नीतियां न केवल बदस्तूर जारी रहीं बल्कि आगे भी बढ़ीं।

इंदिरा गांधी अपनी नीतियों की परिणति नहीं देख सकीं। उनके बदले सत्तासीन हुए उनके सुफत्र ने इन नीतियों को और जोर से आगे बढ़ाया और उनको तार्किक परिणति तक पहुंचा दिया। 1990 तक यह साफ हो गया कि उदारीकरण– वैश्वीकरण की नीतियों को अब फराने ेमवर्क में आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। फराने ेमवर्क को छोड़ना ही पड़ेगा ओर वह छोड़ दिया गया। तब तक यह भी स्पष्ट हो गया था कि भारत का एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग अब फराने ेमवर्क में तेजी से पूंजी संचय नहीं कर सकता। किसी समय नेहरू की नीतियों के समर्थक जे.आर.डी. टाटा कहने लगे कि अब उन नीतियों को छोड़ देने का समय आ गया है।

1980 के दशक में कुछ पूंजीगत मालों, मध्यवर्ती मालों को आयात करने की छूट दी गई। ये ज्यादातर नये उपभोक्ता मालों से संबंधित थे। इसी तरह इन क्षेत्रों में विदेशी पूंजी निवेश को भी छूट दी गई। मारुति–सुजुकी किस्म के संयुक्त उद्यम लगाये गये। इस सबके लिए सरकार ने बड़े पैमाने पर कर्ज लिए। कर्ज में भी छोटी अवधि के कर्जों की मात्रा काफी बढ़ गयी।

इन सबसे कुछ खास क्षेत्रों में उत्पादन तेजी से बढ़ा। इससे औद्योगिक उत्पादन में तेजी आई। हरित क्रांति के देश के अन्य क्षेत्रों में प्रसार से कृषि उत्पादन में भी बढ़ोत्तरी हुयी। यहां यह याद रखना होगा कि निजी पूंजी को छूट देने के बावजूद सरकार ने अभी अपने पूंजीगत निवेश में कटौती नहीं शुरू की थी। इससे हरित क्रांति को देश के बाकी हिस्सों में फैलने में मदद मिली।

लेकिन वृद्धि दर में असली तेजी सेवा क्षेत्र में रही। कम क्रय शक्ति और मांग आधारित देश के पूंजीवादी विकास ने अब एक खास गति पकड़ ली थी। मूलभूत मालों के उत्पादन में बहुत थोड़ी बढ़ोत्तरी के बावजूद उन पर आधारित खरीद–फरोख्त और अन्य कारोबार तेजी से बढ़ा। हर चीज खरीद–बेच और लेन–देन के दायरे में आने लगी। इससे संबंधित एक बड़ा अनौपचारिक क्षेत्र भी तेजी से अस्तित्व में आया।

इस तरह मूलतः सेवा क्षेत्र की मदद से अंततः यह संभव हुआ कि भारत ने अपनी तीन दशक फरानी 'हिन्दू विकास दर' छोड़ दी। जब तक वृद्धि दर कृषि और उद्योग तक सिमटी रही तब तक यह निम्न विकास दर बनी रही। अब सेवा क्षेत्र की बदौलत इससे निजात मिल सकी। बेशक इस सेवा क्षेत्र के तेज विकास के लिए पूर्वाधार भी पिछले तीन दशकों की धीमी विकास दर के पूंजीवादी विकास के तहत ही तैयार हुआ था।

इस दशक में दृश्य पटल पर एक और वर्ग उभर कर सामने आया। यह था शहरी उपभोक्तावादी मध्यम वर्ग। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह ज्यादातर सेवा क्षेत्र से जुड़ा हुआ था। इस तरह इस दशक में सेवा क्षेत्र के उभार और शहरी उपभोक्तावादी मध्यम वर्ग के उभार में एक सम्बन्ध भी था। धीमे–धीमे एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग की उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों का इसे मुख्य सामाजिक आधार बनना था। वस्तुतः राजीव गांधी ने तो सत्तासीन होते ही 'इक्कीसवीं सदी' के नारे के तहत इसे सीधे संबोधित किया था। बाद में भी उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के लिए बार–बार इस वर्ग की दुहाई दी जाती रही।

एक रूप में यह शहरी उपभोक्तावादी मध्यम वर्ग क्रय शक्ति की समस्या का अत्यन्त सीमित ही सही समाधान पेश करता था। और ज्यादा कंगाल होते जा रहे आबादी के अन्य हिस्सों से इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती थी। लेकिन साथ ही यह भी था कि यह वर्ग अपनी मुखरता और सामाजिक दृश्यता के लिए पूंजीपति वर्ग की इन नीतियों के लिए वैधानिकता भी जुटा सकता था।

अपने सारतत्व में उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों का मतलब था मजदूर वर्ग के शोषण को बढ़ाना। उसकी श्रम शक्ति की कीमत को कम करना तथा उससे ज्यादा काम करवाना। इसी तरह छोटी सम्पत्ति के मालिकों के कंगालीकरण की बढ़ाना। उनके अधिशेष और सम्पत्ति का बड़ी पूंजी द्वारा हरण किया जाना।

एक ओर बड़ी पूंजी के मुनाफे में बढ़ोत्तरी और दूसरी ओर मजदूरों और छोटी सम्पत्ति के मालिकों के जीवन स्तर में गिरावट। यह ध्रुवीकरण और उससे उत्पन्न संकट उदारीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के अनिवार्य परिणाम हैं।

इस ध्रुवीकरण के चलते उत्पादित बेशी मूल्य के हस्तगतकरण के संकट को गहराना था। एक छोटा सा शहरी उपभोक्तावादी मध्यम वर्ग इसे हल नहीं कर सकता था।

चूंकि अभी सरकार ने खेती में सरकारी पूंजी निवेश में कोई कटौती नहीं की थी और कृषि उत्पादों के विदेश से आयात–निर्यात पर भी पावंदी यथावत थी इसलिए खेतिहर पूंजीपति वर्ग और एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग के बीच का अंतर्विरोध भी किसी नये चरण में नहीं पहुंचा। इसके मुकाबले नौकरशाह पूंजीपति वर्ग पर फर्क पड़ा। उदारीकरण की नीतियों के चलते किसी हद तक उसके विशेषाधिकारों में कटौती हुयी। इससे भी ज्यादा उसे इस आशंका से पेरशानी हुयी कि इन नीतियों के पूरी तरह परवान चढ़ने पर उसका क्या होगा। उदारीकरण–वैश्वीकरण के उत्साही समर्थकों के निशाने पर भी वही था।

जैसा कि पहले कहा गया है इस आंशिक उदारीकरण–वैश्वीकरण की परिणति एक नये संकट में होनी थी और वह हुयी। लेकिन जब 1990–91 में एक नया भुगतान संतुलन को संकट गहराया तो समूचे एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग ने एक स्वर में कहना शुरू किया कि यह बंद अर्थव्यवस्था वाली नियंत्रणकारी नीतियों का नतीजा है। अपनी इच्छाओं को परवान चढ़ाने के लिए उसने अब तक की समूची नीति पर ही हमला करना शुरू कर दिया। वे एकदम चालाकी से यह तथ्य छिपा ले गये कि वे स्वयं इन्हीं नीतियों की पैदाइश हैं।

D. 1991 से अब तक

1991 तक आते–आते न केवल भारत का पूंजीपति वर्ग एकदम बदल गया था बल्कि समूची दुनिया की पूरी स्थिति ही बदल गयी थी। इसने भी 1991 के बाद गुणात्मक तौर पर भिन्न नीतियों में अपनी भूमिका अदा की।

जब आजादी के बाद भारत के पूंजीपति वर्ग ने अपनी यात्रा शुरू की थी तो उस समय दुनिया साम्राज्यवादी और समाजवादी दो खेमों में विभाजित थी। जहां साम्राज्यवादी नव–आजाद हो रहे देशों पर अपना शिंकजा कसने के लिए प्रयासरत थे वहीं समाजवादी खेमा इन देशों का स्वाभाविक मित्र था। भारत के पूंजीपति ने अपनी विकास यात्रा में इसका फायदा उठाया।

बाद के समय में जब सोवियत संघ में पूंजीवाद की फनर्स्थापना हो गई और कालांतर में उसके नेतृत्व में एक अन्य साम्राज्यवादी खेमा पैदा हो गया तब दोनों साम्राज्यवादी खेमों के बीच टकराव का भी भारत के पूंजीपति वर्ग ने फायदा उठाया। पूरे 1970 के दशक और 1980 के दशक के मध्य तक यह स्थिति कायम रही। इसने पूंजीपति वर्ग की सौदेबाजी की क्षमता को बढ़ा दिया था।

लेकिन 1980 के दशक के उत्तरार्ध में सोवियत खेमे के पराभव और दशक के अंत में इसके बिखराव ने पश्चिमी साम्राज्यवादियों, खासकर अमेरिकी साम्राज्यवादियों की स्थिति काफी मजबूत कर दी। उनकी वित्त पूंजी की पकड़ दुनिया में काफी मजबूत हो गई और उसी अनुपात में भारत जैसे देशों के पूंजीपति वर्ग की स्थिति कमजोर हो गई। इन सबने 1991 के संक्रमण में अपना प्रभाव डाला। इसी कारण एक–दो साल बाद देश के पूंजीपतियों ने इस बात की शिकायत की थी कि उन्हें अपने ही देश में विदेशी पूंजी के मुकाबले 'लेवल प्लेयिंग फील्ड' नहीं मिल रहा है।

1965 तक पूर्णतया संरक्षित बाजार में और उसके बाद क्रमशः ढीले पड़ते संरक्षित बाजार में पल–बढ़कर 1980 के दशक के अंत तक भारत का एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग अब इतना शक्तिशाली हो गया था कि वह विश्व बाजार में उतर सके। पूरे 1980 के दशक में पानी की थाह लगाकर वह आश्वस्त भी हो चुका था कि वह ऐसा कर सकता है। इसीलिए जब 1990–91 के संकट का इस्तेमाल कर साम्राज्यवादियों ने उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण की नीतियां भारत पर थोपीं तो उसने इसे थोड़ी ना–नुकर कर स्वीकार कर लिया। ना–नुकर इसलिए कि एक तो शर्तें ज्यादा कड़ी लग रही थीं। दूसरे इसलिए कि वह कदम जमा–जमा कर आगे बढ़ना चाहता था। इसी के साथ यह भी कि वह देश के अंदरूनी विस्फोटक हालात से अच्छी तरह वाकिफ था। मामला कभी भी हाथ से निकल सकता था। पिछले दो सालों में चार सरकारें बदल चुकी थीं और राजीव गांधी की हत्या से उपजी सहानुभूति के बावजूद कांग्रेस पार्टी को बहुमत नहीं मिला था। एक अल्पमत की सरकार देश में चार दशक से चली आ रही नीतियों को आमूल–चूल ढंग से बदल रही थी।

उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण का मतलब है मजदूर वर्ग और छोटी सम्पत्ति के मालिकों के जीवन स्तर को गिराकर पूंजी के मुनाफे को बेइंतहा बढ़ाना। इसमें देशी–विदेशी दोनों पूंजी को लूट की पूरी छूट मिलनी थी। दोनों के बीच चार दशक से चला आ रहा अलगाव खत्म होना था। भारत की अर्थव्यवस्था का वैश्विक अर्थव्यवस्था में एकीकरण होना था। भारत के पूंजीपति वर्ग को साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग का कनिष्ठ साझेदार बनकर वैश्विक लूट में अपना हिस्सा बढ़ाना था।

भारत के पूंजीपति वर्ग ने 1991 के बाद से पूरी दुनिया में जिस तरह से पांव पसारे हैं केवल उसी से यह स्पष्ट है कि वह अपने विकास के इस नये चरण के लिए किस कदर तैयार हो चुका था। आज वह एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका ही नहीं, साम्राज्यवादी देशों में भी निवेश कर रहा है।

1991 से लागू उदारीकरण–निजीकरण–वैश्वीकरण की नीतियों के तहत पूंजी और मालों के प्रवाह के लिए सारे दरवाजे खोल दिये गये हैं। केवल थोड़े से बंधन ही अब मौजूद हैं। इसके चलते देश में विदेशी पूंजी का प्रभाव पहले के मुकाबले बहुत बढ़ा है। पहले विदेशी पूंजी ज्यादातर सरकारी कर्ज और सहायता के रूप में थी। इस पर सरकार का नियंत्रण था। निजी क्षेत्र में आ रही विदेशी पूंजी पर भी ढेरों नियम–कानून लागू थे। इसके चलते विदेशी पूंजी का प्रभाव सीमित था। अब ऐसा नहीं है। अब ज्यादातर विदेशी पूंजी निजी क्षेत्र में आ रही है। उस पर सरकार का नियंत्रण बहुत कम है।

लेकिन देश में विदेशी पूंजी के इस बढ़ते प्रभाव से देश की एकाधिकारी पूंजी को कोई परेशानी नहीं है। उसका अपना मुनाफा न केवल सुरक्षित है बल्कि बढ़ रहा है। इसीलिए वह खुश है। इन दो दशकों में एकाधिकारी पूंजी पहले कभी के मुकाबले ज्यादा तेज गति से फली–फूली है।

एकाधिकारी पूंजी के तेज गति से फलने–फूलने के मुकाबले पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों की गति इन दो दशकों में भिन्न–भिन्न रही है। नौकरशाह पूंजीपति वर्ग पहले तो बहुत बौखलाया पर बाद में उसने अपने को नये निजाम के साथ ढाल लिया। उसने पाया कि नये निजाम में उसके लिए लूट–पाट के अवसर कम नहीं हुए हैं बल्कि बढ़े ही हैं। सार्वजनिक क्षेत्र बदले हुए रूप में बने हुए हैं और भारी–भरकम नौकरशाही के बिना पूंजीपति वर्ग की शासन व्यवस्था नहीं चल सकती। इसलिए एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग के साथ कभी–कभार रगड़–झगड़ के बावजूद नौकरशाह पूंजीपति वर्ग भी नये निजाम में फल–फूल रहा है। उसके सदस्यों के पास से सैकड़ों–हजारों करोड़ रुपये की सम्पत्ति बरामद हो रही है।

खेतिहर पूंजीपति वर्ग की हालत नये निजाम में किसी हद तक पतली हुई है। लेकिन यह भी सापेक्षिक तौर पर ही। खेती को वह सरकारी प्रोत्साहन और संरक्षण अब नहीं है जो 1970 व 80 के दशक में था। इसके चलते खेतिहर पूंजीपतियों का निचला हिस्सा संकट में पड़ा है। परन्तु बाकी हिस्सों ने देहातों और पास के शहरों–कस्बों में अपने कारोबार का वैविध्यीकरण किया है और वह फल–फूल रहा है। वह देहातों में पूंजीवादी व्यवस्था का मुख्य स्तंभ है।

नये निजाम में क्षेत्रीय पूंजीपति फले–फूले हैं। बेंगलूरू, हैदराबाद और अहमदाबाद जैसे शहर इसी के विकास के चलते उभर कर आये हैं। अब यह क्षेत्रीय पूंजीपति वर्ग मझोला पूंजीपति वर्ग नहीं रह गया है। भले ही वह एकाधिकारी पूंजीपति वर्ग के समकक्ष न हो तो भी वह पर्याप्त बड़ा हो गया है। इसका प्रभाव केन्द्र राज्य संबंधों पर भी पड़ रहा है। पहले के टकराव अब भिन्न रूप ग्रहण कर रहे हैं। कभी केन्द्र की सत्ता की विरोधी डी.एम.के और ए.आई.डी.एम.के आज केन्द्र की सत्ता चलाने में भूमिका निभा रहे हैं। यहां यह भी गौर तलब है कि नये निजाम में क्षेत्रीय पूंजीपति वर्ग ने विदेशी पूंजी से सीधा संबंध स्थापित किया है।

छोटी मझोली पूंजी की स्थिति भी नये निजाम में बदली है। छोटे–मझोले उद्यम अब ज्यादा से ज्यादा देशी–विदेशी बड़ी पूंजी के साथ उत्पादन–वितरण में सम्बद्ध होते जा रहे हैं। उत्पादन–वितरण में उनकी स्वतंत्र स्थिति समाप्त हो रही है। उनकी स्वतंत्र स्थिति तभी बनी हुई है जब वे निम्न गुणवत्ता के मालों और सेवाओं के उत्पादक और वितरक हों। अन्यथा तो वे वैश्विक मूल्य सृजन श्रृंखला का हिस्सा बन रहे हैं। पहले की आशंका के विपरीत छोटे–मझोले और कुटीर उद्यम उतने तबाह–बरबाद नहीं हुए हैं जितना इस तरह रूपांतरित हुए हैं।

पूंजीपति वर्ग के इन विभिन्न हिस्सों के ठीक विपरीत मजदूरों, छोटे किसानों और दस्तकारों तथा अन्य छोटी सम्पत्ति वालों की हालत इस काल में हर दृष्टि से खराब हुई है। मजदूरों की मजदूरी घटी है और उनमें बेरोजगारी बढ़ी है। छोटे किसानों की कंगाली बढ़ी है, उनकी सम्पत्ति का हरण तेज हुआ है। यही हाल दस्तकारों और अन्य छोटी सम्पत्ति वालों का भी है। पिछले दो दशकों में आबादी के इन हिस्सों की हालत पूंजीपति वर्ग के मुकाबले सापेक्ष तौर पर नहीं बल्कि निरपेक्ष तौर पर भी गिरी है।

पिछले दो दशकों में भारत का पूंजीपति वर्ग उस तरह के संकट का शिकार नहीं हुआ है जैसा वह उसके पहले समय–समय पर होता था। लेकिन इसके बावजूद एक ज्यादा बड़ा संकट धीमे–धीमे सतह के नीचे निर्मित हो रहा है।

इन दो दशकों में शुरू के एक दशक तक विकास की दर और गति लगभग वही रही जो 1980 के दशक में थी। यह जरूर हुआ कि उस प्रवृत्ति ने और जोर पकड़ा जो 1980 के दशक की विशेषता थी। 1990 के दशक में कृषि में वृद्धि दर धीमी हो गई। इसी तरह उद्योग में भी। इनके मुकाबले सेवा क्षेत्र ने और तेज रफतार पकड़ ली। यह एक अजीब सी प्रवृत्ति थी पर भारत के कुल पूंजीवादी विकास का परिणाम थी।

पिछले नौ सालों में यह प्रवृत्ति और भी मुखर हुई है। इस काल में औसतन आठ प्रतिशत से ज्यादा वृद्धि दर का पूंजीपति वर्ग जश्न मना रहा है। पर यह छलांग एक बार फिर सेवाक्षेत्र की बदौलत ही लगी है। कृषि और उद्योग तो लगभग फरानी अवस्था में ही हैं। यही नहीं कुल उत्पादन में कृषि के लगातार घटते जाते हिस्से के कारण बाकी अर्थव्यवस्था ने एक तरह से उससे अपने आप को विछिन्न भी कर लिया है। कृषि में कम या ज्यादा वृद्धि दर का बाकी अर्थव्यवस्था पर खास असर नहीं पड़ता भले ही खेती पर अभी देश की आधी से ज्यादा आबादी निर्भर हो।

भारतीय कृषि आज संकट पूर्ण अवस्था में है। यह इसके खास तरह के पूंजीवादी विकास के साथ अनिवार्य रूप से संबद्ध है। इस कृषि संकट के कई सारे आयाम हैं। इसी के साथ देश का औद्योगिक क्षेत्र भी खास तरह की विकृति और संकट का शिकार है। पिछले दो दशकों के दौरान विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के एकीकरण ने इन्हें आवेग प्रदान किया है। यही नहीं, इसने देश की समूची अर्थव्यवस्था को विभिन्न तरह के खतरों के सामने ज्यादा अरक्षित किया है। भारतीय अर्थव्यवस्था में अस्थिरता के तत्व बढ़े हैं। वैश्विक झटकों का इस पर असर बढ़ा है। खासकर सट्टेबाज वित्तीय पूंजी के अस्थिर प्रवाह के गंभीर परिणाम अब भारतीय अर्थव्यवस्था में भी दृष्टिगोचर हैं।

'तेज गति से विकास करती' भारतीय अर्थव्यवस्था का यह भी एक अहं पहलू है।

यह अजीबोगरीब विकास जिसमें आधी से ज्यादा आबादी समेटने वाला क्षेत्र अप्रासंगिक होता जा रहा हो वह पूरे देश को और स्वयं पूंजीपति वर्ग को कहां ले जायेगा? वह अजीबोगरीब विकास जिसमें प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता बढ़ने के बदले गिरते–गिरते चार–पांच दशक पहले के स्तर पर जा चुकी हो उसका क्या भविष्य है? इस विकास के बारे में बहुत नरमी से कहा जाये तो भी यही कि यह मिट्टी के पांव वाला भीम है जो जरा सी बौछार से ढह जायेगा।

(इस लेख के साथ लाल सलाम में प्रकाशित ये लेख भी देखें: उदारीकरण के दौर का भारतीय पूंजीवाद, लाल सलाम अंक–19, कृषि संकट : कुछ आयाम, लाल सलाम अंक–24ए असंगठित क्षेत्र में मजदूर वर्ग, लाल सलाम अंक–24)